जैनदर्शन में समतावादी समाज-रचना के आर्थिक तत्त्व

—डा० नरेन्द्र भानावत, एम० ए०, पी-एच० डी०
[हिन्दी-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर]

जीवन के चार पुरुषार्थ माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म के साथ अर्थ रखने का फलितार्थ यह है कि अर्थ का उपयोग धर्म द्वारा नियन्त्रित हो और धर्म अर्थ द्वारा प्रवृत्यात्मक बने। इस दृष्टि से धर्म-अर्थ का यह सम्बन्ध सन्तुलित अर्थव्यवस्था और सामाजिक समानता स्थापित करने में सहायक बनता है। धर्म अन्तर की सुषुप्त शक्तियों को जागृत करने के साथ-साथ शरीर-रक्षण के लिए आवश्यक व्यवस्था भी देता है। इसी धरातल पर धर्म आर्थिक तत्त्वों से जुड़ता है।

जैन धर्म केवल निवृत्तिवादी दर्शन नहीं है। इसमें प्रवृत्तिमूलक धर्म के अनेक तत्त्व विद्यमान हैं। वस्तुतः निवृत्ति और प्रवृत्ति के उचित समन्वय से ही धर्म का लोकोपकारी रूप प्रकट होता है। कहना तो यह चाहिए कि धर्म का प्रवृत्ति रूप ही उसकी आन्तरिकता को, उसकी अमूर्तता को उजागर करता है। उदाहरण के लिए, अहिंसा धर्म की आन्तरिकता किसी को नहीं मारने तक ही सीमित नहीं है। वह दूसरों को अपने तुल्य समझने, उनसे प्रेम करने जैसे विश्वात्मभाव में प्रतिफलित होती है। इस दृष्टि से जैनधर्म में जहाँ एक ओर संसारत्यागी, अपरिग्रही, पंच महाव्रत धारी साधु (श्रमण) हैं वहाँ दूसरी ओर संसार में रहते हुए मर्यादित प्रवृत्तियाँ करने वाले अणुव्रतधारी श्रावक (सद्-गृहस्थ) भी हैं। जैनधर्मावलम्बी मात्र साधु ही नहीं हैं, बड़े-बड़े राजा-महाराजा, दीवान और कोषाध्यक्ष, सेनापति और किलेदार तथा सेठ-साहूकार भी इसके मुख्य उपासक रहे हैं। यही नहीं, वैभवसम्पन्नता, दानशीलता, धनाढ्यता और व्यावसायिक कुशलता में जैनधर्मावलम्बी सदा अग्रणी रहे हैं। ईमानदारी, विश्वस्तता और प्रामाणिकता के क्षेत्र में भी ये प्रतिष्ठित रहे हैं। इस पृष्ठभूमि में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जैनधर्म के आचार-विचारों ने उनकी व्यावसायिकता, प्रबन्धकुशलता और आर्थिक गतिविधियों को प्रेरित-प्रभावित किया है।

आधुनिक युग में महात्मा गाँधी ने राजनीति और अर्थनीति के धरातल पर अहिंसात्मक संवेदना से प्रेरित होकर जो प्रयोग किये, उनमें जैनदर्शन के प्रभावों को सुगमता से रेखांकित किया जा सकता है। आर्थिक क्षेत्र में ट्रस्टी-शिप का सिद्धान्त, आवश्यकताओं से अधिक वस्तुओं का संचय न करना, शरीर श्रम, गो-पालन, स्वादविजय, उपवास आदि पर बल इस दृष्टि से उल्लेखनीय है।

जैनदर्शन का मूल लक्ष्य वीतरागभाव अर्थात राग-द्वेष से रहित समभाव की स्थिति, प्राप्त करना है। जब तक हृदय में या समाज में विषम भाव बने रहते हैं, तब तक यह स्थिति नहीं प्राप्त की जा सकती। इस विषमता के कई स्तर हैं, जैसे सामाजिक विषमता, वैचारिक मतभेद आदि, पर इनमें प्रमुख है—आर्थिक विषमता। आर्थिक वैषम्य की जड़ स्वार्थ है, और स्वार्थ के कारण ही मन में कषायभाव जागृत होते हैं और प्रवृत्तियाँ पापोन्मुख बनती हैं। लोभ और मोह पापों के मूल कहे गये हैं। भगवान महावीर ने इसे परिग्रह कहा है। यह अर्थ-मोह या परिग्रह कैसे टूटे, इसी के लिए जैनधर्म में श्रावक के लिए मुख्यतः बारह व्रतों की व्यवस्था की गयी है। समतावादी समाज-रचना के लिए आवश्यक है कि न मन में विषमभाव रहें और न समाज में असमानता रहे। इसके लिए धार्मिक और आर्थिक दोनों स्तरों पर प्रयत्न अपेक्षित हैं। जैनदर्शन में धार्मिक प्रेरणा से जो अर्थतन्त्र उभरा है, वह इस दिशा में हमारा मार्ग दर्शन कर सकता है। इस दृष्टि से मुख्य अग्रलिखित तत्त्वों को रेखांकित किया जा सकता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) श्रम की प्रतिष्ठा।
(२) आवश्यकताओं का स्वैच्छिक परिसीमन।
(३) साधन-शुद्धि पर बल।
(४) अर्जन का विसर्जन।

(१) **श्रम की प्रतिष्ठा**—जैन मान्यता के अनुसार सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में जब प्राकृतिक कल्पवृक्षादि साधनों से आवश्यकताओं की पूर्ति होना सम्भव न रहा, तब भगवान ऋषभदेव ने असि, मसि, और कृषि रूप जीविकोपार्जन की कला विकसित की और समाज को प्रकृति-निर्भरता से श्रमजन्य आत्मनिर्भरता की ओर उन्मुख किया।

जैनदर्शन में आत्मा के पुरुषार्थ और श्रम की विशेष प्रतिष्ठा है। व्यक्ति अपने पुरुषार्थ के बल पर ही आत्म-साधना कर परमात्म-दशा प्राप्त कर सकता है। इस दशा को प्राप्त करने के लिए किसी अन्य का पुरुषार्थ उसके लिए मार्गदर्शक और प्रेरक तो बन सकता है, पर सहायक नहीं। इसी दृष्टि से भगवान महावीर ने अपने साधनाकाल में इन्द्र की सहायता नहीं स्वीकार की और स्वयं के पुरुषार्थ-पराक्रम के बल पर ही उपसर्गों का समभावपूर्वक सामना किया। 'उपासक दशांग' सूत्र में भगवान महावीर और कुम्भकार सद्दालपुत्त का जो प्रसंग वर्णित है, उससे स्पष्ट होता है कि गोशालक का आजीवक मत नियतिवाद का विश्वासी है जबकि महावीर का मत आत्म-पुरुषार्थ और आत्म-पराक्रम को ही अपनी उन्नति का केन्द्र मानता है। जैन साधु को 'श्रमण' और जैन श्रावक को 'श्रमणोपासक' कहा जाना भी इस दृष्टि से अर्थवान बनता है (तप के बारह भेदों में, भिक्षाचरी' और कायक्लेश) तथा दैनन्दिन प्रतिलेखन और परिमार्जन का क्रम भी प्रकारान्तर से साधना के क्षेत्र में शारीरिक श्रम की महत्ता प्रतिष्ठापित करते हैं।

साधना के क्षेत्र में प्रतिष्ठित श्रम की यह भावना सामाजिक स्तर पर भी समादृत हुई। भगवान महावीर ने जन्म के आधार पर मान्य वर्ण व्यवस्था को चुनौती दी और उसे कर्म अर्थात् श्रम के आधार पर प्रतिष्ठापित किया। उनका स्पष्ट उद्घोष था—'कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बनता है।' दूसरे शब्दों में उन्होंने 'जन्मना' जाति के स्थान पर 'कर्मणा समूह' को मान्यता दी और इस प्रकार सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार कर्म शक्ति को बनाया। इसी बिन्दु से श्रम अर्थव्यवस्था से जुड़ा और कृषि, गोपालन, वाणिज्य आदि की प्रतिष्ठा बढ़ी।

(२) **आवश्यकताओं का स्वैच्छिक परिसीमन**—जीवन में श्रम की प्रतिष्ठा होने पर जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुओं को सभी पैदा करने लगे और आवश्यकतानुसार उनमें विनिमय होने लगा। धीरे-धीरे विनिमय के लाभ ने अनावश्यक उत्पादन क्षमता बढ़ाई और तब अर्थ-लोभ ने मुद्रा को मान्यता दी। मुद्रा के प्रचलन ने समाज में ऊँच-नीच के कई स्तर कायम कर दिये। समाज में श्रम की अपेक्षा पूंजी की प्रतिष्ठा बढ़ी और नाना प्रकार से शोषण होने लगा। औद्योगीकरण, यन्त्रवाद और यातायात तथा संचार के द्रुतगामी साधनों के विकास से उत्पादन और वितरण में असन्तुलन पैदा हो गया। एक वर्ग ऐसा बना जिसके पास आवश्यकता से अधिक पूंजी और वस्तु-सामग्री जमा हो गयी और दूसरा वर्ग ऐसा बना जो जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुओं से भी वंचित रहा। पहला वर्ग दूसरे वर्ग के श्रम का शोषण कर उत्पादन में सक्रिय भागीदार न बनने पर भी, अधिकाधिक पूंजी संचित करने लगा। फलस्वरूप वर्ग संघर्ष बढ़ा। यह संघर्ष प्रदेश विशेष तक सीमित न रहकर, अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन गया।

इस समस्या को हल करने के लिए आधुनिक युग में समाजवाद, साम्यवाद जैसी कई विचारधाराएँ सामने आईं। सबकी अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। भगवान महावीर ने आज से २५०० वर्ष पूर्व इस समस्या पर चिन्तन किया और कुछ सूत्र दिये जो आज भी हमारे लिए समाधानकारक हैं।

(१) उनका पहला सूत्र यह है कि आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संचय न करो। मनुष्य की इच्छाएँ आकाश की तरह अनन्त हैं और ज्यों-ज्यों लाभ होता है, लोभ की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। यदि चाँदी-सोने के कैलाश पर्वत भी व्यक्ति को प्राप्त हो जाएँ, तब भी उसकी इच्छा पूरी नहीं हो सकती, अतः इच्छा का नियमन आवश्यक है। इस दृष्टि से श्रावकों के लिए परिग्रह-परिमाण या इच्छा-परिमाण व्रत की व्यवस्था की गयी है। इसके अनुसार सांसारिक पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाली इच्छा को सीमित किया जाता है और यह निश्चय किया जाता है कि मैं इतने पदार्थों से अधिक की इच्छा नहीं करूँगा। शास्त्रकारों ने ऐसे पदार्थों को नौ भागों में विभक्त किया है (१) क्षेत्र (खेत आदि भूमि) (२) वास्तु (निवास योग्य स्थान) (३) हिरण्य (चाँदी) (४) सुवर्ण (सोना) (५) धन (सोने-चाँदी के ढले हुए सिक्के अथवा घी, गुड़, शक्कर आदि मूल्यवान पदार्थ) (६) धान्य (गेहूँ, चावल, तिल आदि) (७) द्विपद (जिसके दो पाँव हों, जैसे मनुष्य और पक्षी) (८) चतुष्पद (जिसके चार पाँव हों, जैसे हाथी, घोड़े, गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि) और (९) कुप्य (वस्त्र, पात्र, औषध, आदि)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार की मर्यादा से व्यक्ति अनावश्यक संग्रह और शोषण की प्रवृत्ति से बचता है।

(२) भगवान महावीर का दूसरा सूत्र यह है कि विभिन्न दिशाओं में आने-जाने के सम्बन्ध में मर्यादा कर यह निश्चय किया जाये कि मैं अमुक स्थान से अमुक दिशा में अथवा सब दिशाओं में इतनी दूर से अधिक नहीं जाऊँगा। इस मर्यादा या निश्चय को दिक्परिमाणव्रत कहा जाता है। इस मर्यादा से वृत्तियों का संकोच होता है, मन की चंचलता मिटती है और अनावश्यक लाभ या संग्रह के अवसरों पर स्वैच्छिक रोक लगती है। प्रकारान्तर से दूसरों के अधिकार-क्षेत्र में उपनिवेश बसा कर लाभ कमाने की अथवा शोषण करने की वृत्ति से बचाव होता है। आधुनिक युग में प्रादेशिक सीमा, अन्तर्राष्ट्रीय सीमा, नाकेबन्दी आदि की व्यवस्था इसी व्रत के फलितार्थ हैं। क्षेत्र सीमा का अतिक्रमण करना आज भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि में अपराध माना जाता है। तस्कर वृत्ति इसका उदाहरण है।

(३) भगवान महावीर ने तीसरा सूत्र यह दिया कि मर्यादित क्षेत्र में रहे हुए पदार्थों के उपभोग-परिभोग की मर्यादा भी निश्चित की जाए। दिक्परिणामव्रत के द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर का क्षेत्र एवं वहाँ के पदार्थादि से तो निवृत्ति हो जाती है पर यदि मर्यादित क्षेत्र के पदार्थों के उपभोग की मर्यादा निश्चित नहीं की जाती तो उससे भी आवश्यक संग्रह का अवसर बना रहता है। अतः उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत की विशेष व्यवस्था की गयी है। जो एक बार भोगा जा चुकने के पश्चात् फिर न भोगा जा सके, उस पदार्थ को भोगना, काम में लेना, उपभोग है, जैसे भोजन, पानी आदि; और जो वस्तु बार-बार भोगी जा सके, उसे भोगना परिभोग है; जैसे वस्त्र, बिस्तर आदि। उपभोग-वस्तुओं में वे वस्तुएँ आती हैं जिनका होना शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक है। परिभोग-वस्तुओं में उन पदार्थों की गणना है जो शरीर को सुन्दर और अलंकृत बनाते हैं अथवा जो शरीर के लिए आनन्ददायी माने जाते हैं। शास्त्रकारों ने उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओं को २७ भागों में विभक्त किया है।

इस प्रकार की मर्यादा का उद्देश्य यही है कि व्यक्ति का जीवन सादगीपूर्ण हो और वह स्वयं जीवित रहने के साथ-साथ दूसरों को भी जीवित रहने का अवसर और साधन प्रदान कर सके।

(४) भगवान महावीर ने चौथा सूत्र यह दिया है कि व्यक्ति प्रतिदिन अपने उपभोग-परिभोग में आने वाली वस्तुओं की मर्यादा निश्चित करे और अपने को इतना संयमशील बनाये कि वह दूसरों के लिए किसी भी प्रकार बाधक न बने। दिक्परिमाण और उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत जीवन भर के लिए स्वीकार किये जाते हैं। अतः इनमें आवागमन का जो क्षेत्र निश्चित किया जाता है तथा उपभोग-परिभोग के लिए जो पदार्थ मर्यादित किये जाते हैं, उन सबका उपयोग वह प्रतिदिन नहीं करता है। इसीलिए एक दिन-रात के लिए उस मर्यादा को भी घटा देना, आवागमन के क्षेत्र और भोग्योपभोग्य पदार्थों की मर्यादा कम कर देना, देशावकाशिकव्रत है। अर्थात् उक्त व्रतों में जो अवकाश रखा है, उसको भी प्रतिदिन संक्षिप्त करते जाना।

श्रावक के लिए प्रतिदिन चौदह नियम चिन्तन करने की जो प्रथा है वह इस देशावकाशिक व्रत का ही रूप है। शास्त्रों में वे नियम इसप्रकार कहे गये हैं—

सचित्त दब्व विग्गई, पन्नी ताम्बूल वत्थ कुसुमेषु।
वाहण सयण विलेवण, बम्भ दिसि नाहण भत्तेषु॥

अर्थात्—१. सचित्त वस्तु, २. द्रव्य ३. विगय, ४. जूते-खड़ाऊँ, ५. पान, ६. वस्त्र, ७. पुष्प, ८. वाहन, ९. शयन, १०. विलेपन, ११. ब्रह्मचर्य, १२. दिशा, १३. स्नान और १४. भोजन। इन नियमों से व्रत विषयक जो मर्यादा रखी जाती हैं, उसका संकोच होता है और आवश्यकतायें उत्तरोत्तर सीमित होती हैं।

उपर्युक्त चारों सूत्रों में जिन मर्यादाओं की बात कही गयी है वह व्यक्ति की अपनी इच्छा और शक्ति पर निर्भर है। भगवान महावीर ने यह नहीं कहा कि आवश्यकतायें इतनी-इतनी सीमित हों। उनका संकेत इतना भर है कि व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार आवश्यकतायें सीमित करे, इच्छायें नियंत्रित करे क्योंकि यही परम शान्ति और आनन्द का रास्ता है। आज की जो राजनैतिक चिन्तनधारा है उसमें भी स्वामित्व और आवश्यकताओं को नियंत्रित करने की बात है। यह नियमन, नियंत्रण और सीमांकन विविध कर पद्धतियों के माध्यम से कानून के तहत किया जा रहा है। यथा—आयकर, सम्पत्तिकर, भूमि और भवन कर, मृत्युकर और नागरिक भूमि सीमांकन एवं विनियमन अधिनियम (अरबन लैण्ड सीलिंग एण्ड रेग्युलेशन एक्ट) आदि।

भगवान महावीर ने अपने समय में, जबकि जनसंख्या इतनी नहीं थी, जीवन की जटिलतायें भी कम थीं, तब यह व्यवस्था दी थी। उसके बाद तो जनसंख्या में विस्फोटक वृद्धि हुई है, जीवन पद्धति जटिल बनी है, आर्थिक दवाब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बढ़ा है, आर्थिक असमानता की खाई विस्तृत हुई है, फिर भी लगता है कि महावीर द्वारा दिया गया समाधान आज भी अधिक व्यावहारिक और उपयोगी है क्योंकि कानून के दवाब से व्यक्ति बचने का प्रयत्न करता है, पर स्वेच्छा से उसमें जो आत्मानुशासन आता है, वह अधिक प्रभावी बनता है।

(३) **साधन-शुद्धि पर बल**—भगवान महावीर ने आवश्यकताओं को सीमित करने के साथ-साथ जो आवश्यकताएँ शेष रहती हैं, उनकी पूर्ति के लिए भी साधन शुद्धि पर विशेष बल दिया है। महात्मा गांधी भी साध्य की पवित्रता के साथ-साथ साधन की पवित्रता को भी महत्व देते थे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि व्रत, साधन की पवित्रता के ही प्रेरक और रक्षक हैं। इन व्रतों के पालन और इनके अतिचारों से बचने का जो विधान है, वह भाव-शुद्धि का सूचक है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति को स्थूलहिंसा से बचना चाहिए। उसे ऐसे नियम नहीं बनाने चाहिए जो अन्याययुक्त हों, न ऐसी सामाजिक रूढ़ियों के बन्धन स्वीकार करने चाहिए जिनसे गरीबों का अहित हो। अइभार (अतिभार), अतिचार इस बात पर बल देता है कि अपने अधीनस्थ कर्मचारियों से निश्चित समय से अधिक काम न लिया जाय, न पशुओं, मजदूरों आदि पर अधिक बोझ लादा जाए और न बाल-विवाह, अनमेल विवाह और रूढ़ियों को अपनाकर जीवन को भारभूत बनाया जाए। भत्त-पाण-विच्छेद अतिचार से यह तथ्य गृहीत होता है कि व्यक्ति अपना व्यापार इस प्रकार करे कि उससे किसी का भोजन व पानी न छीना जाए।

सत्याणुव्रत में सत्य के रक्षण और असत्य से बचाव पर बल दिया गया है। कहा गया है कि व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए **कन्नालीए** अर्थात् कन्या के विषय में, **गवालीए** अर्थात् गौ के विषय में, **भोमालीए** अर्थात् भूमि के विषय में, **नासावहारे** अर्थात् धरोहर के विषय में झूठ न बोले **कूडसक्खिजे** अर्थात् झूठी साक्षी न दें। इसी प्रकार सत्यव्रत के अतिचारों से बचने के लिये कहा गया है कि बिना विचारे एकदम किसी पर दोषारोपण न करें, दूसरों को झूठा उपदेश न दें, झूठे लेख, झूठे दस्तावेज न लिखें, न झूठे समाचार या विज्ञापन आदि प्रकाशित करायें और न झूठे हिसाब आदि रखें।

अस्तेय व्रत की परिपालना का, साधन शुद्धता की दृष्टि से विशेष महत्व है। मन, वचन और काय द्वारा दूसरों के हकों को स्वयं हरण करना और दूसरों से हरण करवाना चोरी है। आज चोरी के साधन स्थूल से सूक्ष्म बनते जा रहे हैं। सेंध लगाने, डाका डालने, ठगने, जेब काटने वाले ही चोर नहीं हैं बल्कि खाद्य वस्तुओं में मिलावट करने वाले, एक वस्तु बताकर दूसरी लेने-देने वाले, कम तोलने और कम नापने वाले, चोरों द्वारा हरण की हुई वस्तु खरीदने वाले, चोरों को चोरी की प्रेरणा करने वाले, झूठा जमा-खर्च करने वाले, जमाखोरी करके बाजारों में एकदम से वस्तु का भाव घटा या बढ़ा देने वाले, झूठे विज्ञापन करने वाले, अवैध रूप से अधिक सूद पर रुपया देने वाले भी चोर हैं। भगवान महावीर ने अस्तेय व्रत के अतिचारों में इन सबका समावेश किया है। इन सूक्ष्म तरीकों की चौर्यवृत्ति के कारण ही आज मुद्रा-स्फीति का इतना प्रसार है और विश्व की अर्थव्यवस्था चरमरा रही है। एक ओर काला धन बढ़ता जा रहा है तो दूसरी ओर गरीब अधिक गरीब बनता जा रहा है। अर्थव्यवस्था के संतुलन के लिये आजीविका के जितने भी साधन हैं, पूंजी के जितने भी स्रोत हैं उनका शुद्ध और पवित्र होना आवश्यक है।

इसी संदर्भ में भगवान महावीर ने ऐसे कार्यों द्वारा आजीविका के उपार्जन का निषेध किया है जिनसे पाप का भार बढ़ता है और समाज के लिए जो अहितकर हों। ऐसे कार्यों की संख्या शास्त्रों में पन्द्रह गिनाई गयी है और इन्हें 'कर्मादान' कहा गया है। इसमें से कुछ कर्मादान तो ऐसे हैं जो लोक में निन्द्य माने जाते हैं और जिनके करने से सामाजिक प्रतिष्ठा नष्ट होती है। उदाहरण के लिए, जंगल को जलाना (**इंगालकम्मे**), शराब आदि मादक पदार्थों का व्यापार करना (**रसवाणिज्जे**), अफीम, संखिया आदि जीवन नाशक पदार्थों को बेचना (**विसवाणिज्जे**), सुन्दर केश वाली स्त्रियों का क्रय-विक्रय करना (**केसवाणिज्जे**), वनदहन करना (**दवग्गिदावणियाकम्मे**), असज्जनों अर्थात् असामाजिक तत्त्वों का पोषण करना (**असईजणपोसणियाकम्मे**) आदि कार्यों को लिया जा सकता है।

साधन-शुद्धि में विवेक, सावधानी और जागरूकता का बड़ा महत्व है। गृहस्थ को अपनी आजीविका के लिये आरम्भज हिंसा आदि करनी पड़ती है। यह एक प्रकार का अर्थदण्ड है जो प्रयोजन विशेष से होता है पर बिना किसी प्रयोजन के निष्कारण ही केवल हास्य, कौतूहल, अविवेक या प्रमादवश जीवों को कष्ट देना, सताना अनर्थदण्ड है। इस प्रवृत्ति से व्यक्ति को बचना चाहिए और विवेकपूर्वक अपना कार्य-व्यापार सम्पादित करना चाहिए।

जैनदर्शन में साधन शुद्धि पर विशेष बल इसलिये भी दिया गया है कि उससे व्यक्ति का चरित्र प्रभावित होता है। 'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन' सूक्ति इस प्रसंग में विशेष अर्थ रखती है। बुरे साधनों से एकत्र किया हुआ धन अन्ततः व्यक्ति को दुर्व्यसनों की ओर ढकेलता है और उसके पतन का कारण बनता है। शास्त्रकारों ने इसलिये खाद्य शुद्धि और खाद्य-संयम पर विशेष बल दिया है। तप के बारह प्रकारों में प्रथम चार तप-अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और रस-परित्याग प्रकारान्तर से भोजन से ही सम्बन्धित है। साधु की भिक्षाचर्या के सम्बन्ध में जो नियम बनाये गये हैं वे भी किसी न किसी रूप में गृहस्थ की साधन-शुद्धि और पवित्र भावना पर ही बल देते हैं।

(४) **अर्जन का विसर्जन**—उपर्युक्त विवेचन से यह नहीं समझा जाना चाहिये कि जैनधर्मावलम्बी आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न नहीं होते। इसके विपरीत ऐसे उदाहरण पर्याप्त हैं जो उनकी वैभवसम्पन्नता और श्रीमन्तता को सूचित करते हैं। उपासकदशांगसूत्र में भगवान महावीर के दस आदर्श श्रावकों का वर्णन आया है। वहाँ उल्लेख है कि आनन्द, नन्दिनीपिता और सालिहीपिता के पास १२-१२ करोड़ सोनैयों की सम्पत्ति थी। चार-चार करोड़ सोनैया निधानरूप अर्थात् खजाने में था, चार-चार करोड़ सोनैयों का विस्तार (द्विपद, चतुष्पद, धन-धान्य आदि की सम्पत्ति) था और चार-चार करोड़ सोनैयों से व्यापार चलता था। इसके अलावा उनके पास गायों के चार-चार गोकुल थे (एक गोकुल में दस-हजार गायें होती थीं)। इसी प्रकार कामदेव, चुल्लशतक, कुण्डकोलिक के पास १८-१८ करोड़ सोनैये थे और गायों के ६-६ गोकुल थे। चुलनीपिता, सुरादेव, महाशतक के पास २४-२४ करोड़ सोनैये की सम्पत्ति और गायों के ८-८ गोकुल थे। सद्दाल पुत्र जो जाति का कुम्भकार था, उसके पास तीन करोड़ सोनैयों की सम्पत्ति थी और दस-हजार गायों का एक गोकुल था। मध्ययुग में वस्तुपाल-तेजपाल और भामाशाह जैसे श्रेष्ठि थे। आधुनिक युग में भी श्रेष्ठियों की कमी नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि महावीर गरीबी का समर्थन नहीं करते। उनका प्रहार धन के प्रति रही हुई मूर्च्छावृत्ति पर है। वे व्यक्ति को निष्क्रिय या अकर्मण्य बनने को नहीं कहते, पर उनका बल अर्जित सम्पत्ति को दूसरों में बांटने पर है। उनका स्पष्ट उद्घोष है—**असंविभागीणहु तस्स मोक्खो** अर्थात् जो अपने प्राप्य को दूसरों में बाँटता नहीं, उसकी मुक्ति नहीं होती। अर्जन के विसर्जन का यह भाव उदार और संवेदनशील व्यक्ति के हृदय में ही जागृत हो सकता है और ऐसा व्यक्ति क्रूर, हिंसक या पापाचारी नहीं हो सकता। निश्चय ही ऐसा व्यक्ति मिष्टभाषी, मितव्ययी, संयमी और सादगी पूर्ण जीवन व्यतीत करने वाला होगा और इन सबके सम्मिलित प्रभाव से उसकी सम्पत्ति भी उत्तरोत्तर वृद्धिमान होगी।

अर्जन का विसर्जन नियमित रूप से होता रहे और मर्यादा से अधिक सम्पत्ति संचित न हो, इसके लिए अतिथि-संविभागव्रत और दान का विधान है। भगवतीसूत्र में तुंगियानगरी के ऐसे श्रावकों का वर्णन आता है जिनके घरों के द्वार अतिथियों के लिए सदा खुले रहते थे। अतिथियों में साधुओं के अतिरिक्त जरूरतमन्द लोगों का भी समावेश है। पुण्य तत्त्व के प्रसंग में पुण्यबन्ध के नौ कारण बताए गये हैं इस दृष्टि से वे उल्लेखनीय हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) भूखे को भोजन देना (अन्न पुण्य) (२) प्यासे को पानी (पेय पदार्थ) पिलाना, (पानपुण्य), (३) जरूरतमन्द को मकान आदि देना (स्थान पुण्य), (४) पाट, बिस्तर आदि देना (शयन पुण्य), (५) वस्त्र आदि देना (वस्त्र पुण्य), (६) मन (७) वचन और (८) शरीर की शुभ प्रवृति से समाज सेवा करना (मन पुण्य, वचन पुण्य और काय पुण्य) तथा (९) पूज्य पुरुषों और समाज सेवियों के प्रति विनम्र भाव प्रकट करते हुए उनका सम्मान सत्कार करना (नमस्कार पुण्य)।

आवश्यकता से अधिक संचय न करना और मर्यादा से अधिक प्राप्य सम्पत्ति को जरूरतमंद लोगों में वितरित कर देने की भावना ही जन कल्याण के कार्य को आगे बढ़ाती है। दान या त्याग का यह रूप केवल रूढ़ि पालन नहीं है। समाज के प्रति कर्तव्य व दायित्व बोध भी है। दान का उद्देश्य समाज में ऊँच-नीच का स्तर कायम करना नहीं, वरन् जीवन रक्षा के लिये आवश्यक वस्तुओं का समवितरण करना है। धर्म शासन इस प्रवृत्ति पर जितना बल देता है उतना ही बल जनतांत्रिक समाजवादी शासन व्यवस्था भी देती है।

जैनदर्शन में दान का यह पक्ष केवल अर्थदान तक ही सीमित नहीं है। यहाँ अर्थदान से अधिक महत्व दिया गया है आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान और अभयदान को। उत्तम दान के लिये यह आवश्यक है कि जो दान दे रहा है वह निष्काम भावना से दे और जो दान ले रहा है, उसमें किसी प्रकार की दीन या हीन भावना पैदा न हो। दान देते समय दानदाता को मान-सम्मान की भूख नहीं होनी चाहिये। निर्लोभ और निरभिमान भाव से किया गया दान ही सच्चा दान है। दाता के मन में किसी प्रकार का ममत्व भाव न रहे, इसी दृष्टि से शास्त्रों में गुप्तदान की महिमा बतायी गई है।

दान की होड़ में येन-केन-प्रकारेण धन बटोरने की प्रवृत्ति आत्मलक्षी व्यक्ति के लिये हितकर नहीं हो सकती। दान में मात्रा का नहीं, गुणात्मकता का महत्व है। नीति और न्याय से अर्जित सम्पदा का दान ही वास्तविक दान है। आवश्यकता से अधिक वस्तु का संचय न कर, दूसरों को दे देना लोकधर्म है, पर अपनी आवश्यक वस्तुओं में से कमी करके, दूसरों के लिये देना आत्मधर्म है। इस दूसरे रूप में ही व्यक्ति अपनी प्रवृत्तियों का विशेष नियमन कर पाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनदर्शन में जिन आर्थिक तत्त्वों का संगुम्फन है, उनकी आज के सन्दर्भ में बड़ी प्रासंगिकता है और धर्म तथा अर्थ की चेतना परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे की पूरक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org